

त्यागे गये लोगों पर लेखन : अरण्य में नई आवाजें

डॉ. नरेश भार्गव

यह इतिहास चक्र का प्रश्न है। दो जमातों का सिलसिला। एक जमात जो समाज की मुख्यधारा है, राजा है, सामाजिक मान्यता प्राप्त शोषक है और जेम्स बांड 007 की तरह 'लाइसेंस टू किल' है। दूसरी जमात मुख्यधारा से धकेली हुई, वंचित, जुबान कटी हुई और समाज के लोगों द्वारा त्याज्य। बहुत पहले से इतिहास इस ओर इंगित करता रहा है। कहीं काले, कहीं यहूदी, कहीं श्रमिक, कहीं आदिवासी और संसार भर में दुख भोगती औरतें। सब जगह एक गहरा विभाजन। ऐसा विभाजन जहां किसी मिलन की संभावना है ही नहीं। अमेरिका में काला और गोरा कहां मिले? प्रजातियों के इस भेद ने 'आयार्थाइड' जैसी नीति को जन्म दे दिया। हिंदुस्तान में जाति विभाजन क्या सवर्ण और त्याज्य को मिलने देगा? यह बात स्पष्ट है कि सवर्णों और दलितों में गहरा विभाजन है। हर मुद्दे पर सवर्ण और दलितों के दो अलग-अलग रुख हैं। दो अलग-अलग परिप्रेक्ष्य और दो अलग-अलग हैसियत—भारत का सामाजिक विभाजन कुछ ऐसा ही है। निश्चित ही ऐसे विभाजन की अपनी त्रासदियां हैं और परिणाम हैं। यह विभाजन संविधान की अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जनजातियों की सूचियां नहीं समझा सकती। बहुत बड़ा

आरोप है कि हिंदुस्तान के संविधान का निर्माण श्रेष्ठ जनों ने किया था। अम्बेडकर एक रियायत थे, जिन्हें सवर्णों की जमात में कुछ कहने का मौका मिला था।

पिछले तीन चार दशकों से इस विभाजन के बारे में कहा जाने लगा है। शोषित स्वयं अपनी आपबीतियां लोगों से कहने लगे हैं। इस व्यवस्था के विरुद्ध शिकायतें कहने का साहस लोग अब करने लगे हैं। सौभाग्य से ये आवाजें अब दुतरफा है। महात्मा गांधी ने जो कुछ कहा, वह उनके अपने परिप्रेक्ष्य का था। राजनीति ने उनके सामाजिक परिप्रेक्ष्य को नहीं समझा। परिणाम मायावती का वह बयान जिसके अनुसार गांधी हितैषी नहीं थे। संयोग से यह बात राष्ट्रीय सेवक संघ भी कहता है। सवर्णों की राजनीति में विभाजन का यह चेहरा समझ में नहीं आने वाला है। लोहिया ने जिस गैर-बराबरी की बात की थी, उसमें त्याज्य के लिए साठ सैंकडे की बात कही गई थी। लोहिया का मानना था जुबान तब खुलेगी जब बराबरी का सामना होगा। पहले हैसियत बढ़े फिर दलित मुख्यधारा में आएंगे। सवर्णों द्वारा बनाई मुख्यधारा कहीं तो बदले।

सवर्णों की व्यवस्था जाति पर इसीलिए गंभीर प्रहार भी हुए। ज्योतिराव फुले 'गुलाम गिरी' में उन मिथकों की चर्चा करते हैं, जो ब्राह्मणों ने अपने बारे में फैलाए थे। महाराष्ट्र में ब्राह्मण अधिकारी था। शायद इसीलिए फुले ने ब्राह्मणों पर हमला किया। ब्राह्मण विश्व का स्वामी ही नहीं वरन वह स्वयं ईश्वर के समान है। ब्राह्मण द्वारा की गई गलती कभी गलती नहीं मानी जा सकती। ब्राह्मण के अपराध को सजा न दो। ब्राह्मण की संपत्ति को कोई नहीं ले सकता। ब्राह्मण के पैर पवित्र हैं इत्यादि। फुले के अनुसार विभाजन की पृष्ठभूमि में स्थापित ये मिथक दलितों के लिए अब भी पीड़ा है। त्याज्यों को ताड़ना भी इन्हीं मिथकों से मिली है। शोषण के लिए सामाजिक मान्यताओं को स्थापित करते इन मिथकों ने दलितों का पीछा छोड़ा नहीं है। सामाजिक प्रचलनों में बहुत कुछ ऐसा है, जिसने विभाजन का और अधिक गहरा है।

अंबेडकर की आवाज अधिक व्यापक और व्यवस्था पर चोट करने वाली थी। अम्बेडकर के अनुसार यह मान लेना चाहिए कि भारत की कभी भी एक सामान्य संस्कृति रही ही नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से तीन हिंदुस्तान रहे हैं। ब्राह्मणवादी हिंदुस्तान, बौद्ध हिंदुस्तान और हिंदू हिंदुस्तान। तीनों हिंदुस्तान की अपनी अपनी संस्कृतियां रही हैं। यह भी मान लेना चाहिए कि मुस्लिम आक्रमण से पहले भारत के इतिहास में हिंदू और बौद्धों का संघर्ष रहा है।

अम्बेडकर महाराष्ट्र के थे और वे ब्राह्मणवादी हिंदूवाद से परिचित थे। संयोगवश राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का हिंदुत्व भी महाराष्ट्रीय ब्राह्मणवाद का दर्शन है। यह भूलना नहीं चाहिए कि महाराष्ट्र में दलितों और हिंदुत्व की ताकतों के बीच संघर्ष अभी भी कायम है। अनुसूचित जातियों या दलितों के प्रश्न पर हिंदुत्व की ताकतें न केवल बगलें झांकती हैं, बल्कि प्रतिरक्षात्मक भी हैं। आश्चर्य नहीं शिवाजी के एक संग्रहालय की स्थापना के समय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की एक सभा में दलितों ने विरोध प्रकट किया। प्रजातंत्र के इस दौर में अंबेडकर एक बौद्धिक हैं जिन्हें दलित भी भुनाना चाहते हैं और सवर्ण भी। पर बौद्धिकता की गंभीरता न होना एक और त्रासदी है, जो त्याज्यों को अपनी स्थिति बदलने नहीं देती।

शायद इसीलिए जरूरी है कि उन आवाजों को भी सुना जाए जो दलित चिंताओं को जोरदार तरीके से कह रही हैं। ये आवाजें अंग्रेजी, हिंदी, मराठी और देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्य से आ रही हैं। साहित्य का यह विभाजन भी मजेदार है। एक ओर सवर्ण साहित्य जो भारतीय संस्कृति के वाद्यवृन्द का केन्द्र है—ऐसा वाद्यवृन्द जो नक्कारखाना अधिक है। दूसरी ओर तूती की आवाज जो दलितों की समर्थक हैं। आखिर ये आवाजें कहना क्या चाहती हैं?

दलितों के लिए अंग्रेजी अभी भी एक बाधा है। शायद भारतीय पीड़ाओं की अभिव्यक्ति में भी अंग्रेजी एक बाधा है। अंग्रेजी समाचार चैनलों का यदि वश चले तो देश की पीड़ा को भी वे अंग्रेजी में डब कर दें। दलितों की आत्मकथाओं को इसी

तरह देखना चाहिए। सवाल प्रकाशन और उसके पढ़ने का भी है। यदि मीनू कृष्णन की बातों पर गौर करें (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) तो दलित साहित्य का प्रतिष्ठित संस्थानों से प्रकाशन इतना सरल नहीं। वैसे भी विश्वविद्यालयों में दलितों का अध्ययन वैकल्पिक है। आपकी इच्छा है तो पढ़िए और यदि आपकी इच्छा नहीं है तो न पढ़िए। फिर इनके पढ़ने वाले कौन हैं। वे लोग जो जिनके लिए दलित अध्ययन बाध्यता है, या वे लोग जो समय गुजारते हैं, या वे लोग जो राजनीतिक उद्देश्य के लिए इन रचनाओं का प्रयोग करना चाहते हैं? अब क्योंकि स्वातंत्र्य, मानव अधिकार, सब आल्टर्न आदि की चर्चा होने लगी है, दलित एक उदाहरण के रूप में अध्ययन के लिए उपयुक्त हैं। सवाल यह भी उठता है कि क्या सवर्ण जो कुछ दलितों के लिए छप रहा है, उससे प्रसन्न हैं? दलितों को भी वैसे इस प्रसन्नता से क्या मतलब? सवर्णों को दलितों के अपमान, शोषण और पीड़ा से क्या लेना-देना, क्योंकि इसके वाहक वे स्वयं हैं। उनकी समझ में परिवर्तन की गुहारती दलितों की आवाज का क्या अर्थ?

सेमिनार, वर्कशॉप या गोष्ठियों का भी यही हाल है। अधिकांश में दलित त्याग्य समूह मात्र संदर्भ हैं और दलित आवाजें और दलित समूह मात्र इन संदर्भों के उदाहरण। दलित आवाजों के विश्लेषण में सहानुभूति तो है, पर गंभीर चिंता नहीं। दलितों के प्रति चैतन्यता के इन स्वरूपों में कितनी यथार्थता है—कहा नहीं जा सकता। अरुंधती राय का यह कथन है कि भारत में एक प्रकार का अपार्याइड मौजूद है, जिस पर शेष दुनिया का ध्यान नहीं गया है। डरबन में जो कुछ कहा गया और प्रस्तुत किया गया, वह सारी दुनिया के लिए कौतूहल था। यह भी तथ्य है कि दलित साहित्य के जनक गैर-दलित नहीं है। दलितों की आवाजें दलितों की कलम से ही निकली हैं। हो सकता है, दलित साहित्य अपनी यौवनावस्था में पहुंच जाए, तो उच्च जातियों द्वारा रचा गया साहित्य अपने आपमें अप्रासंगिक हो जाए।

दलितों की इन आवाजों में कांचा इलैया का स्वर कुछ बड़ा

सा है। 'मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ?' हिंदुत्व दर्शन का एक दर्शन शास्त्रीय आलोच्य, संस्कृति और राजनीतिक अर्थव्यवस्था अधिक गहरी आवाजें हैं। एक नया प्रयास यह भी है कि विदेशी विश्वविद्यालयों के विद्वान दलितों पर अपना ध्यान केंद्रित करें, दलितों को प्रमुखता दें।

प्रसंग यह है कि दलितों की ये आवाजें किन परिस्थितियों को चुनौती दे रही हैं। हिंदुत्व की संरचना जिसके लिए दलित उद्धार की वस्तु है। ऐसा उद्धार जिन्हें संस्कृत मंत्रों से पवित्र और शुद्ध किया जा सकता है। राजस्थान में समाज कल्याण के छात्रावासों में भोजनमंत्र का प्रारंभ इसी प्रकार की शुद्धि का एक भाग है। शिशु भारती के कैपों में राष्ट्रीय सेवक संघ किसे ये समझा रहा है कि जाति में दलितों की स्थिति लाने के जिम्मेदार पाश्चात्य विद्वान हैं, ब्राह्मणों का इससे कोई लेना-देना नहीं है। ब्राह्मणों द्वारा रचित शोषणवादी संरचना की मीमांसा ज्योतिराव फुले ने जोरदार तरीके से की ही है।

या फिर हिन्दू धर्म का संबंध आर्यों की विजय से है जिसमें अनार्य त्याग्य हो गए और समाज में निम्न स्थान पा गए। पेरियार के इन प्रश्नों का कौन जवाब देगा कि हिंदू एक दिल्ली शासन है, जो द्रविड़ों के शोषण की पहले सोचता है। ब्राह्मणी समाजवाद में नारे तो हैं, पर गैर-बराबरी को दूर करने की इच्छा नहीं। इसीलिए हिंदू सामाजिक संरचना का स्वरूप सामंतवादी है जिसमें दलित का काम मात्र सेवा करना है। कम से कम दलित पैथर्स आंदोलन ने तो यही कहा है। दलित पैथर्स की आवाज सामंतवाद के विरुद्ध आवाज है।

कर्ण, विदुर, एकलव्य और शम्बूक, सभी दलितों के लिए हिंदू विभाजन के उदाहरण हैं। आखिर शम्बूक का वध इसीलिए तो किया गया था कि वह ब्राह्मण तौर-तरीकों को अपनाने की कोशिश कर रहा था। प्रश्न यही उठता है कि दलितों की ये आवाजें हिंदू अरण्य में खोई हुई आवाजें नहीं हैं? देश की सामाजिक प्रचलता और इन आवाजों में बड़ा अंतर अभी भी मौजूद है। इन अंतरों को कैसे पाटा जाए—इस प्रश्न का उत्तर इतना अधिक आसान भी नहीं है।